

भारतीय ज्ञान परंपरा मे योगशास्त्र के अष्टांग 'यम' का दार्शनिक विश्लेषण:

एक अध्ययन

शोधकर्त्री - पुष्पिता चक्रवर्ती

संस्कृत विभाग, असम विश्वविद्यालय

सारांश :: 'भारतीय ज्ञान परंपरा' भारत के प्राचीन शास्त्र-विज्ञान का समुच्चय है। इस ज्ञान परंपरा में भारत के प्राचीन ऋषि-महर्षियों द्वारा प्रदत्त शास्त्र-संपदा समाहित है, जो आधुनिकता के साथ समन्वित होकर भारत के प्राचीन ज्ञान को वैज्ञानिक एवं तार्किक दृष्टि से प्रज्ञा के उच्चतम शिखर पर स्थापित करती है। मूलतः भारतीय ज्ञान परंपरा हजारों वर्षों की प्राचीन प्रज्ञा, अनुभव तथा वैज्ञानिक चिंतन का एक समृद्ध भंडार है। यह केवल धार्मिक शिक्षा नहीं, बल्कि विज्ञान, गणित, चिकित्सा, वास्तुकला, अध्यात्म और दर्शन का एक व्यापक समाहार है। भारतीय ज्ञान परंपरा का महत्व केवल प्राचीन ज्ञान को जानने तक सीमित नहीं है, बल्कि वर्तमान समस्याओं के समाधान में उस ज्ञान के प्रयोग में भी निहित है। इस विशाल ज्ञान-आकाश का एक उज्ज्वल नक्षत्र "योगशास्त्र" है। भारतीय ज्ञान परंपरा स्पष्ट रूप से प्रतिपादित करती है कि योगशास्त्र केवल आसन-प्राणायाम जैसी शारीरिक क्रियाओं तक सीमित नहीं है, बल्कि यह शरीर, मन और आत्मा के समन्वय का एक शास्त्रीय विज्ञान है। वास्तव में योग नित्य-नैमित्तिक जीवन के सूक्ष्म से लेकर महान तक लगभग प्रत्येक कार्य से जुड़ा हुआ है। वाचिक, शारीरिक और मानसिक प्रत्येक क्षेत्र योग के अंतर्गत आता है। योग का ज्ञान विभिन्न ज्ञान-शाखाओं के आंतरिक तत्वों को जोड़कर मनुष्य को उसके परम प्रज्ञामय लक्ष्य की ओर अग्रसर करता है। योगशास्त्र में अष्टांगयोग का सिद्धांत प्रतिपादित है, जिसमें प्रथम और प्रमुख अंग 'यम' है। यमांग मूलतः आंतरिक एवं नैतिक आचरण का आधार प्रदान करता है। इसके पाँच स्तंभ - अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह व्यक्ति की चेतना को जाग्रत कर आत्मिक उन्नति में सहायक होते हैं। व्यक्ति का व्यवहार

उसके नैतिक ज्ञान पर आधारित होता है, और अष्टांगयोग का प्रथम अंग 'यम' इसी नैतिक संरचना की नींव रखता है। अतः यमांग का विश्लेषणात्मक ज्ञान प्रत्येक व्यक्ति के लिए अत्यंत आवश्यक है।

कुंजी शब्द : भारतीय ज्ञान परंपरा, दर्शन, अष्टांगयोग, पतंजलि, योगशास्त्र, योगसूत्र, यम, सार्वभौम महाव्रत, नैतिक दर्शन, कैवल्य, अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह।

मूलपत्र ——— योगतत्त्व सृष्टि का नाभिकीय सिद्धांत है। योगतत्त्व को केंद्र में रखकर ही सृष्टि अर्थात् ब्रह्मांड की रचना वास्तविक रूप धारण करती है। शास्त्र उच्च स्वर में प्रतिपादित करते हैं कि तप के माध्यम से ही ब्रह्मा, जीव-जगत के धारक ब्रह्मांड अर्थात् सृष्टि के सृजन के कारण 'प्रजापति' की उपाधि से विभूषित हुए। वास्तव में 'तप' योगशास्त्र का अविच्छिन्न अंग है। ब्रह्मांड स्थावर तत्त्वों का समुच्चय है, जैसे—पृथ्वी, जल, वायु, आकाश और अग्नि। जब ये स्थावर तत्त्व चेतन तत्त्व में रूपांतरित होते हैं, तब वह चेतनयुक्त भूतमंडल 'सृष्टि' कहलाता है। इसके पश्चात एक क्रमिक शृंखला में सृष्टि का संचालन होता है। सृष्टि के सृजन एवं संचालन में योग का योगदान असीम है। ब्रह्मयोग से उत्पन्न यह महाशून्य पुरुष और प्रकृति की सृष्टि, पालन और संहार की लीलाओं में तत्त्व से तत्त्व के मध्य बार-बार योग-वियोग के माध्यम से कार्य करता है।

योगशास्त्र का प्रभाव चतुर्मुख ब्रह्मा के मुख से प्रकट वेदों से लेकर ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्, पुराण, वेदांग, वेदांत, दर्शन तथा काव्य-परंपरा में प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से दिखाई देता है। योगशास्त्र के अनेक स्वतंत्र ग्रंथ भी उपलब्ध हैं, जैसे—हठयोगप्रदीपिका, घेरंड संहिता, शिव संहिता, योगयाज्ञवल्क्य आदि। इन स्वतंत्र ग्रंथों में प्रमुख और सर्वाधिक प्रचलित महर्षि पतंजलि कृत 'योगसूत्र' है। अतः योगसूत्र योगशास्त्र का मूल ग्रंथ है। अत्रि-पुत्र महर्षि पतंजलि ने अपने योगशास्त्र को दर्शन परंपरा के आस्तिक दर्शन के अंतर्गत 'योगदर्शन' में समाहित किया। इस दर्शन शाखा की स्थापना द्वारा वे योगदर्शन के जनक के रूप में प्रतिष्ठित हुए। भारतीय ज्ञान परंपरा में 'योगसूत्र' का विशेष स्थान है। महर्षि पतंजलि द्वारा रचित योगसूत्र आज के समय में योगसाधकों के लिए ब्रह्मा की अर्धांगिनी देवी

सावित्री के समान पूज्य तथा जल के समान उपयोगी है। अनौपचारिक रूप से योगतत्त्व सर्वत्र विद्यमान है, तथापि औपचारिक रूप से साधक योगतत्त्व के निर्देशों के माध्यम से कैवल्य की परम अवस्था को प्राप्त कर सकता है—यह बात योगशास्त्र में स्पष्ट की गई है। योगतत्त्व का प्रवाह साधक को केवल लौकिक ही नहीं, बल्कि पारलौकिक सुख और संतोष भी प्रदान करता है। चूँकि प्रत्येक व्यक्ति योग के संयोग से ही उत्पन्न हुआ है, अतः यह योगतत्त्व उसके शारीरिक, मानसिक और वाचिक सभी स्तरों पर शाश्वत संतोष का विस्तार करता है। योगशास्त्र एक नहीं, बल्कि अनेक शाखाओं में विभाजित है, जैसे—मंत्रयोग, तंत्रयोग, हठयोग, राजयोग, ध्यानयोग, स्पर्शयोग, क्रियायोग, भक्तियोग, ज्ञानयोग आदि। इन विविध शाखाओं वाला योगतत्त्व अंगों के आधार पर भी एकरूप नहीं है; प्राचीन काल से वर्तमान तक षडंग, सप्तांग और अष्टांग योग की परंपरा देखने को मिलती है। प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा, समाधि और तर्क नामक षडंगयोग का विस्तृत वर्णन मैत्रायणी उपनिषद् में प्राप्त होता है। शोधन, दृढ़ता, स्थिरता, धैर्य, लघुता, प्रत्यक्षीकरण और निरलिप्तता नामक सप्तांगयोग का वर्णन घेरंड संहिता में मिलता है। महर्षि पतंजलि अष्टांगयोग के विस्तारक हैं। उन्होंने अपने 'योगसूत्र' नामक विशिष्ट दर्शन ग्रंथ में अष्टांगयोग का विधान प्रस्तुत किया।

अष्टांगयोग , यथा , यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि के रूप में प्रसिद्ध है। षडंग और सप्तांग योग की तुलना में अष्टांगयोग का प्रयोग और प्रचलन अधिक व्यापक रूप से देखा जाता है। वर्तमान समय में अध्ययन, अध्यापन, शोध, चिकित्सा तथा ज्ञान-परंपरा के तात्त्विक अनुसंधान के क्षेत्र में भी अष्टांगयोग सर्वत्र अग्रगण्य है। योगकेंद्रों, पारंपरिक चिकित्सा विज्ञान तथा मनोविज्ञान के क्षेत्रों में भी अष्टांगयोग का प्रभाव प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों रूपों में परिलक्षित होता है। महर्षि पतंजलि ने अष्टांगयोग में षडंग और सप्तांग योग के अंगों का भी समाहार किया है। अतः विधिपूर्वक अष्टांगयोग का पालन साधक के परम अभिलषित तत्त्वानुसंधान तथा अभिप्रेत लक्ष्य की प्राप्ति में अत्यंत सहायक होता है—इस विषय में शास्त्रों के गहन अध्ययन से कोई संदेह नहीं रहता। योगसूत्र मूलतः योग के दार्शनिक दृष्टिकोण का प्रस्तोता है। 'दर्शन' शब्द, जो नपुंसकलिंगवाचक है, √दृश् धातु और 'ल्युट्' प्रत्यय से निर्मित है, जिसका अर्थ है—उत्कृष्ट अथवा सूक्ष्म

निरीक्षण। अतः सामान्य देखने और उत्कृष्ट रूप से परिदर्शन करने में जो सूक्ष्म अंतर है, वही दर्शन परंपरा की महिमा को बढ़ाता है। √दृश् धातु से निर्मित 'दर्शन' शब्द उत्कृष्ट इक्षण का बोध कराता है, अर्थात् अंतःकरण के माध्यम से देखे गए तत्त्व का सूक्ष्म और विवेचनात्मक श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन, और उसके तर्कसंगत निष्कर्ष की अभिव्यक्ति। इस प्रकार जब योगशास्त्र का योगतत्त्व दर्शनशास्त्र के साथ समन्वित होता है, तब दोनों तत्त्वों के गहन मंथन से 'योगदर्शन' की रचना होती है। अतः दर्शन के दार्शनिक विश्लेषण के साथ योग की व्याख्या साधक को ज्ञानयोग की ओर अग्रसर करती है। ज्ञान वह परम तत्त्व है, जो समस्त अविद्या जनित अज्ञान का नाश कर योगी को इस लोक में सुख तथा परलोक में शाश्वत संतोष प्रदान करता है। चूँकि सृष्टि एक क्रमबद्ध शृंखला में संचालित होती है और योग भी सृष्टि का अभिन्न अंग है, इसलिए योग में भी एक क्रमिक व्यवस्था योगशास्त्र में परिलक्षित होती है। प्रत्यक्ष रूप से योगशास्त्र के अध्ययन में योग के अंगों के पालन हेतु कोई स्पष्ट क्रमबद्ध निर्देश नहीं मिलता, किंतु परोक्ष रूप से 'अनुशासन' शब्द के माध्यम से इस क्रम का संकेत स्पष्ट रूप से प्राप्त होता है। महर्षि पतंजलि ने अपने योगसूत्र के प्रारंभ में "अथः योगानुशासनम्" का उल्लेख किया है। शास्त्रों में कहा गया है कि सृष्टि के प्रारंभ में ब्रह्मा के मुख से 'ॐ' के पश्चात् 'अथ' शब्द का उच्चारण हुआ, अतः 'अथ' शब्द मंगलसूचक माना जाता है। संस्कृत शास्त्र परंपरा के अनुसार किसी भी कार्य के प्रारंभ में मंगलाचरण आवश्यक होता है, और इसी परंपरा का पालन करते हुए महर्षि पतंजलि ने अपने ग्रंथ के प्रारंभ में मंगलाचरण प्रस्तुत किया है। 'अथः' शब्द के माध्यम से मंगलाचरण करने के उपरांत महर्षि पतंजलि 'अनुशासन' शब्द द्वारा योगतत्त्वों की क्रमिक व्यवस्था का निर्देश देते हैं। शब्दकोश के अनुसार 'अनुशासन' का अर्थ है शृंखला, नियमबद्ध नियंत्रण तथा एक ऐसी क्रमिक पद्धति जिसका उल्लंघन न किया जा सके। चूँकि महर्षि पतंजलि ने अष्टांगयोग का विधान किया है, अतः 'अनुशासन' शब्द से स्पष्ट होता है कि अष्टांगयोग का क्रमबद्ध पालन किया जाना आवश्यक है। शास्त्रों का ज्ञान बाह्य और आंतरिक दोनों मार्गों को महत्त्व देता है, तथापि इन दोनों में आंतरिक ज्ञान की महत्ता अधिक मानी गई है। पतंजलि ने अष्टांगयोग के आठ अंगों को 'अंतरंग' और 'बहिरंग' इन दो भागों में विभाजित किया है। यम, नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार, ये पाँच अंग बहिरंग के अंतर्गत आते

हैं, जबकि धारणा, ध्यान और समाधि अंतरंग के अंतर्गत माने जाते हैं। इस प्रकार पतंजलि ने अष्टांगयोग को अंतरंग और बहिरंग में विभाजित कर प्रत्येक अंग की विशिष्ट महत्ता को स्पष्ट किया है।

यमांग :::- महर्षि पतंजलि द्वारा रचित 'योगसूत्र' भारतीय दर्शन की एक अमूल्य धरोहर है, जिसमें चित्तवृत्ति निरोध के माध्यम से कैवल्य प्राप्ति का मार्ग प्रदर्शित किया गया है। अष्टांगयोग के आठ सोपानों में प्रथम और प्रमुख आधार 'यम' है। अष्टांगयोग का पहला अंग 'यम' है। योगशास्त्र में यम मुख्यतः पाँच नैतिक अनुशासनों का समुच्चय है। महर्षि पतंजलि के अनुसार यमांग पुनः पाँच उपांगों में विभक्त है - अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। यमांग के इन पाँच सिद्धांतों को योगशास्त्र में 'सार्वभौम महाव्रत' कहा गया है, क्योंकि ये जाति, धर्म, देश या काल की सीमाओं से परे सार्वभौमिक सत्य के रूप में स्थापित हैं। इन व्रतों को 'महाव्रत' कहने का कारण यह है कि ये किसी भी जाति, देश, काल या परिस्थिति से सीमित नहीं हैं। यमांग केवल व्यक्तिगत आध्यात्मिक उन्नति का साधन नहीं, बल्कि एक स्वस्थ और संतुलित समाज के निर्माण की मूल प्रेरक शक्ति भी है। योगशास्त्र के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि व्यक्तिगत जीवन में यमांग का विशेष महत्व है। अनेक शास्त्रों में कहा गया है कि यम का पालन अनिवार्य है। देश, काल, अवस्था तथा सामान्य, विशेष अथवा आपद्-धर्म की स्थिति में भी यम का पालन सदैव आवश्यक, ग्राह्य और आचरणीय है। अतः प्रत्येक व्यक्ति के लिए यमांग का निरंतर पालन करना कर्तव्य है। यमांग के अभ्यास के बिना चित्त की प्रसन्नता प्राप्त नहीं हो सकती और इसके अभाव में अष्टांगयोग के अगले चरण—नियम से लेकर समाधि तक—की उच्च अवस्थाओं को प्राप्त करना संभव नहीं है। विशेष रूप से वर्तमान वैश्विक अस्थिरता और मानसिक अशांति के युग में 'सार्वभौम महाव्रत' के सिद्धांत विकास और मानसिक शांति की स्थापना में अत्यंत प्रभावी सिद्ध हो सकते हैं। अतः यमांग का सूक्ष्म एवं विश्लेषणात्मक ज्ञान इन विषयों की स्पष्ट समझ विकसित करने में सहायक है।

'यम' शब्द √यम् (उपरम) धातु में 'अप्' प्रत्यय से बना है। 'उपरम' का अर्थ है—विराम या संयम, जो हिंसा आदि शास्त्र-विरुद्ध कर्मों के निषेध का बोध कराता है। दयानंद सरस्वती के अनुसार—“यम्यते, नियम्यते चित्तम् इति यमः”, अर्थात् जिससे चित्त का संयम या नियंत्रण

होता है, वही यम है। यहाँ 'नियमन' के अर्थ में यम का प्रयोग चित्त के नियंत्रण का संकेत करता है। चित्त मूलतः अंतःकरण का एक अंग है। मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार, इन चारों को मिलाकर अंतःकरण कहा जाता है। यमांग व्यक्ति के आंतरिक विकास को प्रोत्साहित करता है, जिसके द्वारा चित्त की अशुद्धि दूर होकर जीवात्मा अपने वास्तविक स्वरूप में परमात्मा के सान्निध्य की ओर अग्रसर होती है। यम के माध्यम से प्राप्त आंतरिक शुद्धता ही अगले अंग 'नियम' के पालन में प्रकट होती है। शास्त्रों में बाह्य स्वरूप को अनित्य कहा गया है, जबकि आंतरिक रूप से श्रेष्ठ व्यक्ति ही प्रशंसनीय माना गया है। अष्टांगयोग का प्रथम अंग 'यम' व्यक्ति के चरित्र और नैतिकता का द्योतक है। यम के पाँच उपांग—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—व्यक्ति के चरित्र को सुदृढ़ बनाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। सुदृढ़ चरित्र वाला, सत्यनिष्ठ, क्षमाशील, दयालु और प्रेमपूर्ण व्यक्ति एक श्रेष्ठ समाज के निर्माण में अग्रणी होता है, और श्रेष्ठ समाज ही एक सुदृढ़ राष्ट्र की नींव रखता है। अतः प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों ही दृष्टियों से यमांग न केवल व्यक्ति के लिए, बल्कि समाज और राष्ट्र के लिए भी अत्यंत महत्वपूर्ण और श्रेष्ठ स्थान रखता है। यम के इन पाँच उपांगों का सूक्ष्म विश्लेषण निम्न प्रकार प्रस्तुत किया गया है—

अहिंसा - अहिंसा अष्टांगयोग के अंतर्गत यमांग का प्रथम उपांग अर्थात् प्रथम और प्रमुख उप-अंग है। व्यक्ति प्रकृति के गुणों के अधीन होता है। एकादश इन्द्रियों के वशीभूत व्यक्ति इन्द्रियों के अनुरूप ही आचरण करता है। जब व्यक्ति के चरित्र में रजोगुण का संयोग इन्द्रिय-वेग के साथ होता है, तब हिंसात्मक कार्यों की उत्पत्ति होती है। पंचक्लेश अथवा पाँच अविद्याएँ - अविद्या (तमस), अस्मिता (मोह), राग (महामोह), द्वेष (तामिश्र) और अभिनिवेश (अंधतामिश्र) , व्यक्ति के चरित्र को प्रभावित करती हैं और हिंसा को बढ़ावा देती हैं। इसके परिणामस्वरूप व्यक्ति अनैतिक एवं अधार्मिक कर्मों में प्रवृत्त होकर विनाशकारी स्वरूप धारण कर लेता है। शास्त्रों में हिंसा के सर्वथा निषेध का विधान किया गया है और अहिंसा की स्थापना की गई है। आदिकाल से अनंत काल तक त्रिदेव-त्रिदेवी, देवगण, देवर्षि, ब्रह्मर्षि, महर्षि, ऋषि, मुनि, साधु और तपस्वियों ने विभिन्न उदाहरणों के माध्यम से बार-बार अहिंसा का उपदेश दिया है। 'अध्वर' शब्द, जो यज्ञ का पर्याय है, उसमें भी अहिंसा का भाव निहित है। चूँकि

शास्त्रों में स्वयं परमात्मा को यज्ञ कहा गया है, अतः परमात्मा का स्वरूप अहिंसक माना गया है। इसके अतिरिक्त “अहिंसा परमो धर्मः” इस शास्त्रीय वचन से स्पष्ट होता है कि धर्म में अहिंसा सर्वोच्च और प्रमुख है। योगशास्त्र के अनुसार अहिंसा के दो प्रकार बताए गए हैं- बाह्य और आंतरिक। शारीरिक अंगों के माध्यम से अहिंसा का पालन ‘बाह्य अहिंसा’ के अंतर्गत आता है, जबकि वाचिक और मानसिक अहिंसा ‘आंतरिक अहिंसा’ के अंतर्गत मानी जाती है। वेदों में शरीर, मन और वाणी—तीनों स्तरों पर अहिंसा के पालन का निर्देश दिया गया है। अहिंसा, हिंसा का प्रतिपक्ष है। ईर्ष्या, द्वेष और लोभ से प्रेरित होकर किसी अन्य प्राणी के शरीर को क्षति पहुँचाना, शस्त्रों द्वारा अंगभंग, प्राणहानि या जीवन को संकट में डालना ‘शारीरिक हिंसा’ कहलाता है। किसी अन्य प्राणी के प्रति मन में अशुभ, अनैतिक या अधार्मिक विचारों का पोषण करना ‘मानसिक हिंसा’ है। वाणी के माध्यम से किसी को मानसिक कष्ट देना ‘वाचिक हिंसा’ कहलाता है। इन तीनों प्रकार की हिंसा का त्याग ही ‘अहिंसा’ नामक यमांग का मूल सिद्धांत है, जिसका पालन शास्त्रों में अनिवार्य बताया गया है।

सत्य – अष्टांगयोग के अंतर्गत यमांग का द्वितीय अंग ‘सत्य’ है। शास्त्रों में सत्य को ‘ऋत’ कहा गया है। यही ऋत समस्त ब्रह्मांड के संचालन का मूल सिद्धांत है। शास्त्रों में वर्णित है कि सूर्य और चंद्रमा भी ऋत के नियमों के अधीन संचालित होते हैं तथा वरुण को ऋत का अधिष्ठाता कहा गया है। इस ऋत का अतिक्रमण असंभव है; संपूर्ण सृष्टि की उत्पत्ति, विकास और प्रलय इसी के अनुसार होते हैं। अतः स्पष्ट है कि सत्य या ऋत सृष्टि के केंद्र में स्थित एक सक्रिय तत्त्व है। महर्षि पतंजलि ने इस ‘सत्य’ को योग का एक अंग माना है। समस्त ब्रह्मांड सत्य के नियमों पर आधारित है, जो अपरिवर्तनीय हैं। यह भी कहा गया है कि सत्य से विचलन होने पर हिंसा और विनाश उत्पन्न होते हैं। ज्ञान परंपरा में सत्य का क्षेत्र अत्यंत गहन और व्यापक है। शास्त्रों के अनुसार आत्मा में जो ज्ञान विद्यमान होता है, वही मन में स्थित होकर वाणी के माध्यम से अभिव्यक्त होता है, यही सत्य का मुख्य लक्षण है। जो सत्य है वही यथार्थ है, और यथार्थ ज्ञान प्रमाणसिद्ध होता है। सत्य को तीन प्रकारों में विभाजित किया गया है- वाचिक, मानसिक और कायिक। क्रोध और अहंकार के वशीभूत होकर बोले गए असत्य या कटु वचनों का त्याग कर यथार्थ और मधुर वाणी का प्रयोग करना ‘वाचिक सत्य’ कहलाता है। शब्द को स्वयं ब्रह्म से

संबद्ध माना गया है, अर्थात् शब्द ही ब्रह्म है। शब्द के माध्यम से ही ब्रह्म का साक्षात्कार संभव है और शब्द में ही उसका निवास है। वाक्-सूक्त के माध्यम से यह स्पष्ट होता है कि शब्द-संबंध द्वारा परमब्रह्म का अनुभव किया जा सकता है। काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार और दंभ आदि से रहित, शुद्ध मन से उत्पन्न और सुनिश्चित वाणी द्वारा व्यक्त व्यवहार 'मानसिक सत्य' कहलाता है। जो साधक सत्य आचरण द्वारा इन्द्रियों को संयमित कर अपने चरित्र और व्यवहार में यथार्थता स्थापित करता है, वही मानसिक सत्य का अनुभव कर सकता है। मन और वाणी के अनुरूप आचरण करना 'कायिक' या 'शारीरिक सत्य' है। शरीर को सत्य और धर्मयुक्त आचरण से जोड़ना ही कायिक सत्य का अंग है। शरीर के माध्यम से नैतिक एवं सत्यनिष्ठ व्यवहार करना कायिक सत्य की प्रतिष्ठा को बढ़ाता है। इस प्रकार यमांग का द्वितीय अंग 'सत्य' साधक के नैतिक चरित्र का विकास करता है, जो उसके व्यवहार में स्पष्ट रूप से प्रकट होता है। अतः 'सत्य' नामक यह योगतत्त्व साधक के चरित्र को दृढ़ और अडिग बनाने में सक्षम है।

अस्तेय – अस्तेय योगदर्शन के अंतर्गत यमांग का तृतीय अंग है। 'स्तेय' शब्द वेदादि शास्त्रों में अनेक बार प्रयुक्त हुआ है। 'स्तेय' का अर्थ है—किसी वस्तु या संपत्ति के वास्तविक स्वामी की अनुमति के बिना उस वस्तु को ग्रहण करना या उस पर अधिकार करना। इसके विपरीत, 'अस्तेय' का अर्थ है मन, वचन और कर्म से ऐसी प्रवृत्ति का पूर्णतः त्याग करना। वैदिक संहिताओं में स्तेय कर्म की निंदा और अस्तेय के पालन की प्रशंसा अनेक बार की गई है। 'स्तेय' (चोरी) के अर्थ में स्तेन, दस्यु, वंचक, तस्कर, मुष्णत, विकृन्त, परिवंचक तथा अघायु आदि शब्दों का प्रयोग मिलता है। ऋग्वेद में 'स्तेन' आदि शब्दों का प्रयोग कई बार हुआ है। यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद में भी इस प्रकार के पदों का उल्लेख विभिन्न मंत्रों में मिलता है, जहाँ स्तेय कर्म की निंदा और उसके दुष्परिणामों का वर्णन किया गया है। यजुर्वेद में स्तेय के विभिन्न प्रकारों का उल्लेख मिलता है—'वंचत' (छल द्वारा दूसरों की वस्तु हरण करने वाला), 'परिवंचत' (सर्वथा मिथ्या, छल और कपट का प्रयोग करने वाला), 'स्तायुनाम्' (चोरी के कार्य द्वारा धन अर्जन करने वाला), 'मुष्णताम्' (रात्रि में चोरी करने वाला) तथा 'विकृन्तन' (विभिन्न उपायों से दूसरों का धन हरण करने वाला)। ऐसे सभी स्तेय करने वालों के लिए शास्त्रों में दंड और दमन का विधान किया गया है।

इनमें 'दस्यु' (आज के संदर्भ में डाकू) सबसे घातक माने गए हैं, जो धन के साथ-साथ जन-जीवन को भी क्षति पहुँचाते हैं और शास्त्रों के माध्यम से हिंसा का मार्ग अपनाते हैं। वेदों में ऐसे लोगों के लिए 'अघायु' शब्द का प्रयोग किया गया है। इस प्रकार अनेक प्रसंगों में वेदों ने स्तेय कर्म की निंदा करते हुए अस्तेय के पालन का उपदेश दिया है। संभवतः स्तेय कर्म दो कारणों से होता है—पहला, विवश होकर (जैसे परिवार के पालन-पोषण के लिए), और दूसरा, स्वभाववश। किंतु किसी भी परिस्थिति में शास्त्रों ने चोरी का निषेध किया है। अतः स्तेय की प्रवृत्तियों के विपरीत 'अस्तेय' एक प्रशंसनीय योगमार्ग के रूप में प्रतिपादित है। साधक के हित के लिए अस्तेय को योगशास्त्र में एक महत्वपूर्ण नैतिक मूल्य के रूप में यमांग में स्थान दिया गया है। साधक के लिए अस्तेय का पालन अत्यंत आवश्यक है। तत्त्वदर्शी ऋषियों ने शास्त्रों में मनुष्य के लिए सात अनिवार्य मर्यादाओं (मानव सीमाओं) का उल्लेख किया है। जो इन मर्यादाओं का उल्लंघन करते हैं, उन्हें 'धर्मपतित' माना जाता है। इन मर्यादाओं का वर्णन यास्काचार्य ने अपने 'निरुक्त' ग्रंथ में किया है, जिनमें 'अस्तेय' को प्रथम और प्रमुख स्थान प्राप्त है। अन्य छह मर्यादाएँ हैं- परस्त्रीगमन का त्याग, वेदज्ञ विद्वानों की हत्या न करना, गर्भ/भ्रूण हत्या न करना, सुरापान से दूर रहना, दुष्कर्मों का सेवन न करना तथा पापकर्म में लिप्त होकर असत्य भाषण न करना। अतः शास्त्रों के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि 'अस्तेय' केवल योगाभ्यास करने वाले योगियों के लिए ही नहीं, बल्कि सामान्य और विशिष्ट सभी मनुष्यों के लिए अत्यंत आवश्यक और महत्वपूर्ण है।

ब्रह्मचर्य – यमांग में ब्रह्मचर्य का चतुर्थ स्थान है, तथापि सामान्य दृष्टि से यह स्पष्ट होता है कि योगियों के लिए ब्रह्मचर्य प्रथम और अत्यंत महत्वपूर्ण आचरण है। शास्त्रों के अध्ययन से ब्रह्मचर्य की महिमा अतुलनीय प्रतीत होती है। 'ब्रह्म' शब्द '√बृह् (वृद्धि)' धातु से बना है, जिसका अर्थ है—वृद्धि करने वाला; अर्थात् जो विकास करता है वही ब्रह्म, ईश्वर, वेद, तत्त्व या तप है। इसके अतिरिक्त ॐ, ब्राह्मण, मोक्ष, अध्यात्म, विद्या, ब्राह्मण-ग्रंथ, संपत्ति, भोजन, शब्द तथा सत्य आदि अर्थों में भी 'ब्रह्म' शब्द का प्रयोग होता है। 'चर्य' शब्द '√चर्' धातु से निर्मित है, जिसका अर्थ है गमन या आचरण। अतः 'ब्रह्मचर्य' का अर्थ है—ब्रह्म या परमात्मा में विचरण करना, वैदिक तत्त्वों को आत्मसात करना तथा परम सत्य को अपने भीतर धारण करना। संक्षेप में, ब्रह्मचर्य का अर्थ है—ब्रह्म या परमब्रह्म की

उपासना। प्रत्येक शास्त्र की भाँति योगशास्त्र का अंतिम लक्ष्य 'कैवल्य' अर्थात् परम, शाश्वत मुक्ति है। अष्टांगयोग का अंतिम अंग 'समाधि' है, जिसके माध्यम से साधक विदेहमुक्ति प्राप्त करता है। समाधि वह अवस्था है जिसमें साधक परब्रह्म में एकाकार हो जाता है। इस अवस्था में शरीरजन्य विकार समाप्त हो जाते हैं—शीत-उष्ण, भूख-प्यास, सुख-दुःख, लाभ-हानि आदि सभी द्वंद्व शून्य हो जाते हैं। समाधि तक पहुँचने के लिए साधक को अनेक योगांगों का क्रमिक अभ्यास करना पड़ता है। इस मार्ग में उसे शारीरिक, मानसिक और वाचिक अनेक बाधाओं का सामना करना पड़ता है। किंतु अंतिम लक्ष्य की प्राप्ति के लिए इन सभी द्वंद्वों का अतिक्रमण आवश्यक है। इस योगयात्रा में साधक की सहायता कुछ बाह्य और आंतरिक साधन करते हैं। योगशास्त्र में पतंजलि ने कहा है "चित्तवृत्ति निरोध ही योग है", और इन चित्तवृत्तियों का निरोध अभ्यास और वैराग्य से संभव है। अभ्यास और वैराग्य एक दिन में प्राप्त नहीं होते, बल्कि इनके लिए दीर्घकालीन साधना, कठोर परिश्रम और निरंतर प्रयास आवश्यक होता है। इस सतत अभ्यास से साधक अपने भीतर ऐसे गुणों का विकास करता है, जो योगमार्ग की बाधाओं को दूर कर उसे आगे बढ़ने में सहायक होते हैं। ब्रह्मचर्य वास्तव में ऐसे ही अनुशासन, अभ्यास और धारणीय आचरणों का समुच्चय है। योगशास्त्र के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि ये सभी अभ्यास ही ब्रह्मचर्य के अंतर्गत आते हैं। ब्रह्मचर्य के पालन से योगी का चित्त संयमित होता है, और इसी संयम से वैराग्य उत्पन्न होता है। इस प्रकार अभ्यास और वैराग्य के माध्यम से साधक अपने परम लक्ष्य की ओर अग्रसर होता है। अतः प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों ही रूपों में ब्रह्मचर्य योग का एक महत्वपूर्ण अलंकार है। वैदिक संहिताओं में ब्रह्मचर्य के पालन की तीन श्रेणियाँ वर्णित हैं—

1. जो व्यक्ति 24 वर्ष तक ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए शास्त्र-अध्ययन करते हैं, उन्हें 'वसु ब्रह्मचारी' कहा गया है।
2. जो 44 वर्ष तक अध्ययन और ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं, उन्हें 'रुद्र ब्रह्मचारी' कहा जाता है।
3. जो 48 वर्ष तक ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं और अत्यंत तेजस्वी एवं विद्वान होते हैं, उन्हें 'आदित्य ब्रह्मचारी' कहा गया है।

शास्त्रों में ब्रह्मचर्य को अत्यंत महत्वपूर्ण बताया गया है, जहाँ मानव जीवन के प्रारंभिक लगभग 25 वर्ष पूर्णतः ब्रह्मचर्य पालन के लिए समर्पित माने गए हैं। इस काल में वेदाध्ययन, गायत्री-जप, योगाभ्यास, शस्त्र-अभ्यास, ध्यान, गो-सेवा, भिक्षा-वृत्ति तथा संध्यावंदन आदि का नियमित पालन अपेक्षित है। विशेष रूप से शारीरिक और मानसिक दोनों प्रकार के मैथुन का निषेध ब्रह्मचर्य का मुख्य आधार है। शास्त्रों के अनुसार ब्रह्मचर्य के पालन से न केवल शारीरिक दृढ़ता बढ़ती है, बल्कि मानसिक और नैतिक गुणों का भी विकास होता है। दैनिक जीवन के अनुशासन ब्रह्मचर्य के माध्यम से सुदृढ़ होते हैं, जिससे व्यक्ति का संपूर्ण जीवन धर्ममय और नैतिक बन जाता है। अष्टांगयोग के अंतर्गत यमांग साधक के नैतिक और चारित्रिक विकास में अत्यंत महत्वपूर्ण है, और ब्रह्मचर्य उसी यमांग का एक प्रमुख अंग होकर उसकी पूर्णता और महत्ता को और अधिक बढ़ाता है।

अपरिग्रह – योगदर्शन के अनुसार अपरिग्रह यमांग का पाँचवाँ और अंतिम अंग है। '√ग्रह (उपादान)' धातु में 'परि' उपसर्ग के योग से 'परिग्रह' शब्द बनता है, जिसका अर्थ है चारों ओर से या पूर्णतः ग्रहण करना। इसके विपरीत 'अ' निषेध उपसर्ग से बना 'अपरिग्रह' शब्द उस प्रवृत्ति का द्योतक है जिसमें किसी भी प्रकार के अनावश्यक ग्रहण का त्याग किया जाता है, अर्थात् आवश्यकता से अधिक कुछ भी स्वीकार न करना।

वेदादि शास्त्रों में प्रार्थना के माध्यम से विषय-वासना से निवृत्ति का संकेत दिया गया है, जो अपरिग्रह का मुख्य दृष्टिकोण है। 'अपरिग्रह' शब्द में 'अ' का प्रयोग परिग्रह के निषेध को स्पष्ट करता है, अर्थात् संग्रह की प्रवृत्ति से विरत रहना। महाभारत के रचयिता वेदव्यास ने अपरिग्रह का लक्षण बताते हुए कहा है कि विषय-संग्रह में निहित दोषों, विशेषकर हिंसा और अनिष्ट परिणामों को देखकर उन विषयों को स्वीकार न करना ही अपरिग्रह है। भोजवृत्ति के अनुसार, भोग-साधनों का त्याग करना ही अपरिग्रह है। शास्त्रों के सूक्ष्म अध्ययन से अपरिग्रह के तीन प्रकार बताए गए हैं —

1. बौद्धिक अपरिग्रह
2. वाचिक अपरिग्रह

3. शारीरिक अपरिग्रह

बुद्धि अपने विवेक के द्वारा यह निर्णय करती है कि कौन-सा विषय ग्रहणीय है और कौन-सा त्याज्य। उसी के अनुसार मन और इन्द्रियाँ कार्य के लिए प्रेरित होती हैं। यदि बुद्धि किसी विषय को अस्वीकार कर दे, तो वाणी और शरीर दोनों ही उस विषय में प्रवृत्त नहीं होते। जब बुद्धि गुण-दोष का विचार करके विषयों में अनिष्ट, हिंसा या पाप का बोध करती है और उन्हें स्वीकार करने से इंकार कर देती है, तब उसे 'बौद्धिक अपरिग्रह' कहा जाता है। वाणी को संयमित रखकर भोग-साधनों के संग्रह की प्रवृत्ति का त्याग करना 'वाचिक अपरिग्रह' है। इसमें सत्यभाषण, छल-कपट का त्याग, अनसूया भाव, मधुर वाणी, निंदा से दूर रहना, अल्पभाषण तथा लोभ, मोह, क्रोध और काम के वश होकर वाणी का दुरुपयोग न करना शामिल है। शारीरिक अपरिग्रह का अर्थ है जीवन निर्वाह के लिए आवश्यक वस्तुओं से अधिक धन, अन्न, वस्त्र, भूमि या अन्य संसाधनों का संग्रह न करना। वेदों में समुचित जीवन-यापन के लिए धन-संपत्ति की प्रार्थना की गई है, किंतु यह भी स्पष्ट किया गया है कि वह केवल स्वभोग के लिए नहीं, बल्कि आवश्यकता अनुसार दूसरों को दान देने के लिए भी है। वेदों में दान को श्रेष्ठ कर्म माना गया है। इस प्रकार अष्टांगयोग के अंतर्गत यमांग का अंतिम अंग 'अपरिग्रह' साधक को भोग और आसक्ति से मुक्त करने में सहायक होता है। क्योंकि विषय-भोग की आसक्ति अंततः दुःख का कारण बनती है। अतः अपरिग्रह निस्संदेह सभी के लिए ग्राह्य, पालन करने योग्य और आचरणीय सिद्धांत है।

वर्तमान समय में व्यक्ति-विशेष, परिस्थिति-विशेष और वातावरण के अनुसार अष्टांगयोग के आठ अंगों में से मुख्यतः ध्यान, आसन और प्राणायाम की ही अधिकता देखने को मिलती है। किन्तु शास्त्रों के अध्ययन से जब यम के महत्त्व पर दृष्टि डाली जाती है, तब उसकी वास्तविक गरिमा का बोध होता है। क्योंकि यमांग केवल योगाभ्यास करने वाले साधकों के लिए ही नहीं, बल्कि प्रत्येक व्यक्ति के लिए अत्यंत आवश्यक है। यम व्यक्ति के आंतरिक गुणों का विकास करने के साथ-साथ उसके नैतिक और चारित्रिक दृढ़ता को भी सुदृढ़ करता है।

संदर्भ सूची -----

- अथर्ववेद, डॉ गंगा सहाय शर्मा, संस्कृत साहित्य प्रकाशन, २०१५, नई दिल्ली
- ऋग्वेद, डॉ गंगा सहाय शर्मा, संस्कृत साहित्य प्रकाशन, १९७९, नई दिल्ली
- पातञ्जल योगदर्शन (व्यासभाष्य एवं भोजवृत्ति सहित). महर्षि पतञ्जलि, सतीश आर्य, Ved Yoga Charitable trust, 2019, Delhi
- पातञ्जलयोगदर्शनम्, डॉ सुरेशचन्द्र श्रीवास्तव, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, २०२३, वाराणसी
- पातञ्जलयोगदर्शनम्, डॉ विमला कर्नाटक, Ratna Publication, 1992, Varanasi
- पातञ्जल योगसूत्र, नन्दलाल दशोरा, रणधीर प्रकाशन, १९९७, हरिद्वार
- ब्रह्मसूत्र, महर्षि वेदव्यास, स्वामी प्रज्ञानन्द सरस्वती, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, २०११, वाराणसी
- योगसूत्रम्, महर्षि पतञ्जलि, ढुण्डिराज शास्त्री, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, २०२३, वाराणसी
- योगसूत्रम्, महर्षि पतञ्जलि, ईश्वर भारद्वाज, परिमल पब्लिकेशन्स, २०१६, दिल्ली
- योग दर्शन, महर्षि पतञ्जलि, डॉ सम्पूर्णानन्द, उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान, २००६, लखनऊ
- योग दर्शन, महर्षि पतञ्जलि, श्री प्रभु दयाल, खेमराज श्रीकृष्णदास प्रकाशन, २०१९, बम्बई
- योगदर्शनम्, महर्षि पतञ्जलि, सत्यपति परिव्राजक, आकृति प्रिंटर्स, २००३, अहमदाबाद
- यजुर्वेद, डॉ रेखा व्यास, संस्कृत साहित्य प्रकाशन, १९७९, नई दिल्ली
- वेदों में योग विद्या. दयानन्द सरस्वती, योगेन्द्र पुरुषार्थी, मधुर प्रकाशन, १९८३, दिल्ली
- सामवेद, डॉ रेखा व्यास, संस्कृत साहित्य प्रकाशन, २०१५, नई दिल्ली

